[illegible]

一

पं० दीनानाथ

श्रीगुरुदेवचरणेषु.

श्रीगुरुदेवचरणेषु

ग्रन्थकर्त्ता

एलकियोनी

(जे. कृष्णमूर्ति)

प्रस्तावना।

वयोवृद्धा होनेके कारण मुझको इस छोटी-सी पुस्तककी संक्षिप्त प्रस्तावनाके लिखनेका सम्मान प्राप्तहुआ है। यह मेरे एक छोटे भाईकी लिखी हुई पहिली पुस्तक है। वे निस्सन्देह केवल शारीरिक रूपसे बालक हैं न कि आत्मिक रूप से। इस पुस्तकमें लिखी हुई शिक्षायें ज्ञानदीक्षा सम्पादन करने के समय उनको उनके "गुरुदेव" से मिली थीं जोकि उन्होंने अपनी स्मरण-शक्तिसे धीरे२ परिश्रम के साथ लिखीं थीं क्योंकि वे अंग्रेज़ी भाषामें गत वर्ष, इस समयकी अपेक्षा, बहुत कम योग्यता रखते थे। अधिकांश तो श्री "गुरुदेव" के वचन ज्यों के त्यों लिखादिये गये हैं और जो अंश इस प्रकार शब्द प्रति शब्द नहीं है वह भी "गुरुदेव" का ही भाव है, जो केवल शिष्यके शब्दोंमें प्रकट किया गया है। दो छूटे हुए पद "गुरुदेव" से पूर्ण किये गये हैं। दो अन्य स्थानों पर छूटे हुए शब्द बढ़ाये गये हैं। इनके अतिरिक्त और सब 'एलकियोनी'

ही का लिखा है, और यह समस्त संसार के लिये उनकी प्रथम भेंट है।

जैसे "गुरुदेव" की कही हुई शिक्षाने उनको सहायता दी उसी प्रकार यह पुस्तक दूसरों को लाभकारी हो—ऐसीही आशासे उन्होंने यह पुस्तक प्रदान कियी है। परन्तु यह शिक्षा तभी फलदायिनी हो सकती है जब कि मनुष्य उसीके अनुसार 'जीवन व्यतीत करें,' जैसा कि उन्होंने इसका पालन गुरुदेवके मुखारविन्दसे निकलने के समयसे ही किया है। यदि पाठक-गण इस शिक्षाके साथ २ दृष्टान्तका भी पालन करें तो उनके लिये गुरुमार्गका यह द्वार प्रवेश करनेके निमित्त उसी प्रकार खुल जावेगा जैसे कि लेखक के लिये, और फिर वे इस "मार्ग" में पाँव रक्खेंगे।

एनी बेसेएट.

गुरुमार्गके द्वारमेँ प्रवेश करनेके अपेक्षक

साधकोँको ।

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतङ्गमय

मुझको असत्यसे सत्यकी ओर लेजाइये।
मुझको अंधकारसे प्रकाशकी ओर लेजाइये।
मुझको मृत्युसे अमर्त्य भावकी ओर लेजाइये।

भूमिका.

ये मेरे वचन नहीं हैं; ये उन "श्री गुरुदेव" के वचन हैं जिन्होंने मुझे सिखाया है। बिना उनके मुझसे कुछ भी न बन पड़ता, परन्तु उनकी सहायतासे मैंने "गुरुमार्ग" मैं पाँव रक्खा है। तुम भी इसी मार्गमैं प्रवेश करना चाहते हो इसलिये ये वचन, जो उन्होंने मुझ से कहे हैं, तुम्हारी भी सहायता करेंगे यदि तुम इनका पालन करो। इतना कहनेसे काम नहीं चलेगा कि ये वाक्य सत्य और सुन्दर हैं; जो मनुष्य इनसे पूर्ण लाभ उठाना चाहे उसको, ठीक वही करना चाहिये जो कुछ कहा गयाहै। भोजनकी ओर देखकर यह कह देनेसे कि यह अच्छा भोजन है भूखे मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती, उसको हाथ बढ़ाकर खाना उचित है। इसी प्रकार "गुरुदेव" के वाक्यों का

सुन लेना ही पर्य्याप्त नहीं है; तुमको जो कुछ वे कहें सो करना चाहिये, प्रत्येक शब्दपर ध्यान देना चाहिये और हरएक सङ्केत ग्रहण करना चाहिये। यदि कोई सङ्केत ग्रहण न किया गया अथवा कोई शब्द छूट गया तो सर्वदाके लिये चला गया, क्योंकि "श्रीगुरुदेव" बार बार नहीं बोलते

इस भागमेँ चार गुण अपेक्षित हैं.

विवेक.

वैराग्य.

सदाचार.

प्रेम.

"श्रीगुरुदेव" ने इन गुणोंमेंसे प्रत्येकके विषय म जो कुछ मझसे कहा है सो मैं तुम से कहनेका प्रयत्न करता हूँ।

श्रीगुरुदेवचरणेषु.

विवेकाध्याय।

इन गुणोंमें पहिला विवेक है; प्रायः इसका अर्थ यह लिया जाता है कि सत् और असत्का विचार करना जिससे मनुष्य "गुरु" के "मार्ग" पर पहुँच जाते हैं। है तो यह ठीक अर्थ परन्तु इसमें और अधिक विशेषता है; इसका पालन करना उचित है, केवल आरम्भमें ही नहीं किन्तु प्रत्येक डेगपर, प्रतिदिन और अन्तपर्यन्त। तुम इस मार्गपर आते हो क्योंकि तुम सीख चुके हो कि जो पदार्थ प्राप्त करने योग्य हैं सो इसी मार्गपर मिलते हैं। जो लोग नहीं जानते सो धन और सामर्थ्यकी प्राप्तिकेलिये परिश्रम करते हैं, परन्तु ये अधिकसे अधिक एक जन्मपर्यन्त ही रहेंगे और इसलिये मिथ्या हैं। इनसे उत्तम और और तत्त्व हैं जो सत्य हैं और बहुत काललों रहते हैं; जब तुम एक बार उनको देख लोगे तो फिर इन मिथ्या वस्तुओं की अभिलाषा कभी न करोगे।

सब संसारमैं दो ही प्रकार के मनुष्य होते हैं–एक ज्ञानी, दूसरे अज्ञानी और यह ज्ञान ही एक कामकी वस्तु है। किसी मनुष्यका कोई भी मत हो, कोई भी जाति हो, उससे कुछ भी प्रयोजन नहीं; मुख्य तत्त्व यह ज्ञान ही है अर्थात् इस वातका ज्ञान कि "ईश्वर" ने मनुष्य के लिये क्या योजना कियी या रचना रची है। क्योंकि "ईश्वर" की एक योजना है और उस योजनाका नाम विकाश (दिनोंदिन उन्नति) है। जब मनुष्य एक वार भी इसको देख लेता और ठीक २ जान लेता है तो फिर उसको विना उद्योग किये कल नहीं पड़ती और वह "ईश्वर" की योजनाके साथ एकतन हो जाता है क्योंकि योजना बड़ी दिव्य और प्रियदर्शन है। इसलिये जो मनुष्य ज्ञानी है वह "ईश्वर" की ओर है, धर्मके लिये लड़नेको प्रस्तुत है और अधर्म को रोकता है तथा विकाश अर्थात् जगत् के कल्याणकोलिये उद्योग करता है कुछ स्वार्थ के लिये नहीं।

जो मनुष्य "ईश्वर" की ओर है वह हमहीं लोगों मैं से एक है और इस बातकी कछ चिन्ता नहीं कि वह हिन्दू है या बौद्ध, खीष्टियान है या मुसलमान, हिन्दुस्तानी है या अंग्रेज़, चीनी है या रूसी। जो "ईश्वर" की ओर हैं वे जानते हैं कि हम इस संसारमैं क्यौं आये हैं और हमको क्या करना चाहिये, और वे उसके करनेका उद्योग करते हैं, और दूसरे लोग अभी जानते भी नहीं कि क्या करना चाहिये, इसलिये वे मूर्खतासे काम करते हैं और नानाप्रकार की बातैं निकालते हैं, जिनसे वे समझते हैं कि हमको सुख मिलेगा और यह नहीं समझते कि हैं तो सब "एक ही" और इसलिये जो उस "एक" (अर्थात् परमात्मा) की इच्छा होगी वही वास्तवमैं सबकेलिये सुखदायक होगी। वे लोग सत्यको छोड़कर असत्यका पालन करते हैं। जबलौं मनुष्य सत्य और असत्यका विचार नहीं सीखते तबलौं वे "ईश्वर" के समीप मैं जाकर नहीं खड़े हो

सकते इसलिये विवेक ही पहिली सीढ़ी है।

परन्तु तुम जब सत्य और असत्यका विचार भी करचुके तब भी स्मरण रक्खो कि सत्य और असत्य के कई भेद हैं और धर्म और अधर्म, आवश्यक और अनावश्यक, उपयोगी और अनुपयोगी, सत्य और मिथ्या, स्वार्थ और परमार्थमें भी विवेक करनेकी आवश्यकता है।

धर्म और अधर्ममेंसे कौन सा करना उचित है इसके जाँचने में तो कुछ कठिनाई नहीं होनी चाहिये क्योंकि जो लोग "गुरुदेव" के अनुचर होना चाहते हैं वे तो पहिले ही से सिद्धान्त करचुके हैं कि चाहे जो कुछ हो धर्मही का पालन करेंगे। किन्तु शरीर और पुरुष दो पृथक् २ पदार्थ हैं और पुरुषकी इच्छा सदा वह नहीं होती जो शरीर चाहता है। जब तुम्हारा शरीर कुछ चाहता है तो टुक ठहर कर सोच लो कि यह तुम चाहते हो या तुम्हारा शरीर। क्योंकि तुम तो "ईश्वर" हो और

तुम्हारी इच्छा वही होगी जो "ईश्वर" की है; परन्तु तुमको चाहिये कि अपनेमैं दूरलौं सोच कर हृदयस्थित "ईश्वर" को ढूँढ़ लो और उसकी वाणी सुनो, वह ही "तुम्हारी" वाणी है। शरीर को आत्मा मत समझो–चाहे स्थूल शरीर हो चाहे कामशरीर, चाहे मानस शरीर। इनमैं से प्रत्येक शरीर अपनी २ इच्छायैं पूर्ण करनेकेलिये आत्मा होनेका बहाना करता है, पर तुम इन सबको पहिचान लो और अपने को इनका प्रभु समझो।

जब कोई काम आवश्यक हो तो स्थूल शरीर विश्राम करना चाहता है, भ्रमण करने को जाना चाहता है, या खाना पीना चाहता है; और अज्ञानी मनुष्य अपने मनमैं यौं कहता है "ये, विश्राम करना खाना पीना इत्यादि कार्य्य मैं करना चाहता हूँ और अवश्य करूँगा"। परन्तु ज्ञानी यौं कहता है "यह जो विश्राम इत्यादिकी इच्छा करता है सो मैं 'नहीं' हूँ, इसको अभी ठहरना चाहिये"।

प्रायः जब कभी किसी पुरुषके साथ परोपकार का अवसर मिलता है तो शरीर यों सोचता है "मुझको इस काम में कैसा दुःख होगा, कोई दूसरा मनुष्य यह काम करले तो अच्छा है"। किन्तु मनुष्य अपने शरीरको यों उत्तर देता है "तुम मुझको अच्छे कामके करनेसे मत रोको"।

शरीर तो तुम्हारा वाहन है—वह घोड़ा है जिसपर तुम आरोहण करते हो। इसलिये तुम को चाहिये कि इसको उत्तम प्रकार से रक्खो, इसकी भलीभाँति रक्षा करो, इससे बहुत (समधिक) काम मत लो, इसको शुद्ध भोजन कराओ, शुद्ध जल पिलाओ और नित्य स्वच्छ सुथरा रक्खो, धूल मिट्टीका कण भी न लगने पावे। क्योंकि विना परम शुद्ध और आरोग्य शरीरके तुम इस "गुरुमार्ग" में प्रवेश करने के उपक्रम का कठिन काम नहीं कर सकते और निरन्तर परिश्रम नहीं उठा सकते। परन्तु तुम शरीर नित्य अपने वश में रखना, शरीर तुम्हारे ऊपर अधिकार न करने पावे।

कामशरीरकी भी बीसों इच्छायें होती हैं; कामशरीर चाहता है कि तुम क्रुद्ध होओ और कटु वचन कहो, दूसरोंसे डाह करो, रुपये पैसे का लोभ करो, पराये धन वैभव देखकर जलो, दुःखमें मलिनचित्त होजाओ। कामशरीर ये सब तथा और बहुतसी बातें भी चाहता है, इसलिये नहीं कि तुम्हारी हानि हो वरन् इसलिये कि कामशरीरके परमाणु, सदा अत्यन्त वेग से हिलना प्रसन्न करते हैं, और इनको निरन्तर पलटते रहना चाहता है। परन्तु तुम तो इन बातोंमें से एक भी नहीं चाहते; इसीलिये तुमको उचित है कि अपनी और अपने शरीर की इच्छाओंमें भेद विवेकद्वारा समझलो।

तुम्हारा मनोमय शरीर अपनेको अहङ्कार द्वारा अलग समझना चाहता और अपनेको अधिक एवं दूसरोंको न्यून समझना चाहता है। तुमने यदि संसारी वस्तुओंसे मन हटा भी लिया हो तौभी मनोमय शरीर अपने ही कार्य्य में लगा रहता है और तुमसे अपनी ही उन्नति

का विचार कराता है और "गुरुदेव" के कार्य्य और परोपकारका विचार नहीं कराता। जब तुम ध्यानमें बैठते हो तो यह मनोमय शरीर जो जो वस्तुएँ 'आप' चाहता है उन्हींका विचार कराता है और जो एक वस्तु 'तुम' चाहते हो उसको भुला देता है। यह मन तुम नहीं हो, पर यह तुम्हारा है, इससे काम लो; सो यहाँ भी विवेक की आवश्यकता है। तुमको उचित है कि सर्वदा ध्यान देकर देखते रहो, नहीं तो कार्य्य सिद्ध न होगा।

गुप्त विद्यामें धर्म और अधर्मके निर्णय में किञ्चित्मात्र भी संशय नहीं रहना चाहिये। चाहे जो हानि हो, तुमको धर्म ही करना उचित है और अधर्म करना अनुचित है; इस बातका कुछ भी सोच न करो कि अज्ञानी लोग क्या कहेंगे या विचारेंगे। तुमको प्रकृतिके गुप्त नियमों का भली भाँति अध्ययन करना चाहिये और जब ये नियम तुमको विदित हो जावें तो अपने जीवनको उनके अनुसार नियत करो

और सदा बुद्धि और समझसे काम लो।

आवश्यक और अनावश्यकके भेदका विचार करना चाहिये। धर्म और अधर्म के विषय मैं तो पर्वतके समान अचल बने रहो परन्तु साधारण बातौंमैं लोगौंकी बात मान लेनी चाहिये। क्यौंकि तुमको सर्वदा कोमलस्वभाव और कृपालु रहना चाहिये, बुद्धिमान् और सब लोगौंके अनुकूल रहो और जो स्वतन्त्रता तुम अपनेलिये चाहते हो वही औरौं को भी दो।

इस बातके जाँचनेका यत्न करते रहो कि करनेके योग्य क्या काम है और स्मरण रक्खो कि उस कामके छोटे या बड़े होनेका विचार न करना। एक छोटा सा काम जो "गुरुदेव" के कार्य्य मैं प्रत्यक्ष सहायक हो, उस कार्य्य की अपेक्षा, जिसको जगत् अच्छा कहे, करना अधिक योग्य है। तुमको केवल उपयोगी और अनुपयोगी कार्य्यौं मैं ही विवेक नहीं करना है किन्तु अधिक और स्वल्प उपयोगी मैं भी। दीनौंको खिलाना अच्छा, भला और उपयोगी

काम है परन्तु उनके आत्माको तृप्त करना उनके शरीरके तृप्त करने से अधिक उपयोगी और भला है। कोई धनी पुरुष शरीरको तृप्त कर सकता है परन्तु आत्माको केवल ज्ञानी ही तृप्त कर सकते हैं। यदि तुममें ज्ञान है तो दूसरोंको ज्ञानी बनानेमें सहायता करनी तुम्हारा धर्म है।

तुम पहिलेही से कितनेही ज्ञानी क्यों न हो, इस "मार्ग" पर तुम्हें बहुत सीखना है; इतना कि यहाँ भी विवेककी आवश्यकता है, और तुमको ध्यानपूर्वक सोचना चाहिये कि सीखने-योग्य क्या है। सब प्रकारका ज्ञान उपयोगी है, और एक दिन सब ज्ञान तुमको प्राप्त हो जायगा; परन्तु जबलों तुमको ज्ञानका एक ही भाग मिला है, ध्यान रक्खो कि यह सबसे उपयोगी भाग है। "ईश्वर" "ज्ञान" है और "प्रेम" भी है; और जितनाही अधिक तुममें ज्ञान है उतना ही तुममें ईश्वरीय भावका अधिक प्रकाश हो सकता है। इसलिये विद्याका

अभ्यास करो; परन्तु सबसे पहिले वह विद्या सीखो जो दूसरौं को सहायता देनेमैं अति उपयोगिनी हो। धीरज के साथ विद्याभ्यास करो, इसलिये नहीं कि लोग तुमको ज्ञानी समझैं, न कि इसलिये कि तुम्हैं ज्ञानी होनेका आनन्द मिले, किन्तु इसलिये कि ज्ञानी ही मनुष्य समझ बूझकर दूसरौंको सहायता दे सकता है। तुम्हैं सहायता देने की इच्छा कितनीही क्यौं न हो, यदि तुम अज्ञानी हो तो भलाई से अधिक बुराई कर सकते हो।

तुमको सत्य और असत्य का विवेक होना चाहिये, तुम्हैं सदा सर्वदा मन वचन और कर्म से सत्य होनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

प्रथम तुमको अपने मनसे सत्य विचार करना चाहिये, और यह सहज नहीं है क्यौंकि इस जगत् मैं बहुत से असत्य विचार और मूढ़ विश्वास हैं और जो उनके दास होगये हैं वे उन्नति नहीं कर सकते। इस कारण तुमको केवल इसीलिये कोई बात माननी न चाहिये

कि बहुतेरे दूसरे मनुष्य भी ऐसाही मानते हैं, न इसलिये कि सैकड़ों वर्षोंसे इसका विश्वास होता चला आरहा है, और न इसीलिये कि यह ऐसी पुस्तकों में लिखा हुआ है जिनको मनुष्य पवित्र समझते हैं; तुमको इसबातका विचार आपही करना चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि यह उचित है या नहीं। स्मरण रक्खो कि सहस्रों मनुष्य किसी विषयपर सहमत क्यों न हों, परन्तु जब वे उसके विषय में कुछ नहीं जानते तो उनकी सम्मति निरर्थक है। जो मनुष्य इस " गुरुमार्ग " पर चलना चाहता है उसको अपनेलिये विचार करना सीखना चाहिये, क्योंकि मूढ़ विश्वास सांसारिक बुराइयोंमें एक बड़ी भारी बुराई है और एक ऐसी बेड़ी है जिससे तुमको नितान्त मुक्त होना चाहिये।

दूसरोंकी ओर तुम्हारा विचार सत्य होना चाहिये, तुमको उनके विषयमें ऐसे विचार मनमें नहीं लाने चाहिये जिनको तुम स्वयं

नहीं जानते। ऐसा मत मान लो कि वे दिन रात तुम्हारा ही विचार कर रहे हैं। यदि कोई मनुष्य ऐसा काम करता है जिसको तुम समझते हो कि वह हमारी हानि करेगा या कोई ऐसी बात कहता है जिसको तुम समझते हो कि हमारे विषय में है, तत्क्षण यह विचार मत करलो कि "वह मुझको हानि पहुँचाना चाहता था"। प्रायः उसको तुम्हारा विचारही नहीं था क्योंकि प्रत्येक जीवको अपनी २ चिन्ता लगी रहती है और उसके विचार उसीके चारों ओर घूमा करते हैं। यदि कोई मनुष्य तुमसे क्रोधित होकर बोलता है तो यह मत समझो कि वह मुझ से घृणा करता है और मुझको दुःख देना चाहता है। कदाचित् किसी दूसरे पुरुष या पदार्थने उस को क्रोधित करदिया है और यद्यपि उसको तुमसे मिलने का अवसर मिलगया इसलिये वह तुमपर ही क्रोधित होता है। वह मूर्खता से काम कर रहा है क्योंकि क्रोध सदाही मूर्खताका लक्षण है, किन्तु इसलिये तुमको

उसकी ओर असत्य विचार नहीं करना चाहिये।

जब "गुरुदेव" तुमको अपना शिष्य मान लेते हैं तो तुम अपने विचारकी सच्चाई उनके विचारकी कसौटीपर जाँच सकते हो। क्योंकि गुरु और शिष्य एकजीव हैं और इस कारण यह देखनेकेलिये कि मेरा विचार गुरुके विचारसे मिलता है या नहीं, उसको केवल अपने विचार "गुरुदेव" के विचार के साथ लाने की ही आवश्यकता है। यदि उसका विचार गुरुके विचारसे न मिले तो वह उसे असत्य जानकर शीघ्र पलट देता है क्योंकि "गुरुदेव" सर्वज्ञ हैं इसलिये उनका विचार परिपूर्ण है। जिनको "गुरुदेव" ने अभी लौं स्वीकार नहीं किया है वे ठीक ऐसा नहीं कर सकते; परन्तु वे बहुधा इसबातके सोचनेसे अपनेको विशेष सहायता पहुँचा सकते हैं कि "'गुरु' इस विषयमें क्या विचार करेंगे? अथवा इस दशामें क्या कहेंगे या करेंगे?" क्योंकि तुमको वह बात नहीं करनी, कहनी,

अथवा सोचनी चाहिये जिसके करने, कहने तथा सोचने का अनुमान "गुरुदेव" मैं तुम नहीं करसकते।

तुमको अपने वचनमैं भी सत्य होना चाहिये—और उसमैं बढ़ाव घटाव न कर यथार्थ कहो। यदि कोई जन कुछ काम करता है तो यह विचार न करो कि उसमैं उसका कुछ विशेष स्वार्थ है; उसके "गुरुदेव" ही उसके विचारौं को जानते हैं और सम्भव है कि वह ऐसे हेतुसे काम कर रहा हो जिसकी तुम्हारे मनमैं कभी कल्पना भी न हुई हो। यदि तुम किसीके विरुद्ध कोई बात सुनो तो उसे दुहराओ नहीं; कदाचित् वह बात सत्य न हो, और यदि सत्य भी हो तौभी उसके विषयमैं कुछ न कहना अधिक प्रेम की बात है। बोलनेके पहिले भलीभाँति सोचलो नहीं तो तुम बढ़ा घटा कर बात कहने के दोषभागी हो जाओगे।

अपने कामौं मैं सत्य होओ–जो कुछ तुम हो, उससे भिन्न होनेका बहाना न करो क्योंकि

हर प्रकारका बहाना सत्यका शुद्ध प्रकाश रोकदेता है, जिसका प्रकाश तुममैं उस प्रकार होना चाहिये जैसे सूर्य्यका प्रकाश स्वच्छ काँचमैंसे होता है।

तुमको स्वार्थ और परमार्थमैं भी विवेक करना चाहिये। क्योंकि स्वार्थके कई भेद हैं, और जब तुम विचार करते हो कि स्वार्थका एक भेद नाश कर उसका सर्वनाश कर दिया है तो यह जैसेका तैसाही एक दूसरे रूपसे निकल पड़ता है। परन्तु धीरे २ दूसरों की सहायताके विचारसे तुम्हारा मन इस प्रकार भर जावेगा कि तुमको अपने विषयमैं सोचनेके लिये समय और स्थान न मिलैंगे।

दूसरे प्रकारसे और भी तुमको विवेक करना उचित है। "ईश्वर" प्रत्येक जन और प्रत्येक वस्तुमैं है इसका भेद करना सीखो फिर चाहे देखनेमैं बाहरसे वह कैसाही निकृष्ट क्यों न हों। तुम अपने भाईको उस गुणसे सहायता दे सकते हो जो तुममैं और उसमैं दोनोंमैं हो,

अौर वह "ईश्वरीय भाव ही" है; और यह भाव उसमें कैसे जाग्रत कराना और उसका सहायक कैसे बनाना यह सीखो, इसीप्रकार तुम अपने भाई को पापसे बचाओ।

वैराग्याध्याय।

बहुत ऐसे पुरुष हैं जिनकेलिये वैराग्यका गुण कठिन है क्योंकि वे अपनेको अपनी 'वासनाही' समझते हैं—और वे यह समझते हैं कि यदि हमारी विशेष वासनायें, या भिन्न २ वस्तुओं के लिये राग, द्वेष छीन लिये जावें तो हमारा आत्माही छीन लिया जाता है। परन्तु ऐसा सोचनेवाले वेही पुरुष हैं जिनको "गुरुदेव" का दर्शन नहीं हुआ है; "गुरुदेव" के पवित्र दर्शनको प्राप्त होनेसे उनके समान होनेकी इच्छाके अतिरिक्त और सब वासनायें जाती रहती हैं। तथापि "गुरु" के साक्षात् दर्शन होनेके सौभाग्य से पहिलेही यदि तुम चाहो तो वासना-रहित हो सकते हो। विवेक ने तुमको पहिलेही सुझादियाहै कि वे वस्तुयें, जिन्हें बहुतसे मनुष्य चाहते हैं, जैसे धन और सामर्थ्य, प्राप्त करने योग्य नहीं हैं; जब केवल बातोंही से नहीं प्रत्युत अन्तःकरणसे पूरा २ अनुभव होजाता है तो धन और सामर्थ्यकी सब वासनायें लुप्त होजाती हैं।

ये सब साधारण बातें हैं; केवल तुमको समझनेकीही आवश्यकता है। परन्तु कुछ ऐसे पुरुष हैं जो स्वर्गसुखके लिये, या जन्ममरण से छुटकारा पाने के लिये ही सांसारिक वस्तुओंके पीछे भ्रमण करना छोड़ देते हैं; तुमको ऐसी भूल कभी न करनी चाहिये। यदि तुमने वास्तवमें स्वार्थ त्याग दिया है तो तुमको इस बातका कभी सोच नहीं हो सकता कि हमें मुक्ति कब प्राप्त होगी या किस प्रकारका स्वर्गसुख मिलेगा। स्मरण रक्खो कि 'सब' प्रकारकी स्वार्थपूर्ण इच्छायें बन्धनरूप हैं चाहे उनके उद्देश्य कितनेही उच्च क्यों न हों, और जबलों तुमनें इन सभोंसे छुटकारा नहीं पालिया है तब लों "श्रीगुरुदेव" के कार्य्यमें लीन होनेके लिये पूरी स्वतन्त्रता तुम्हें नहीं मिली है।

जब स्वार्थकी सब वासनायें जाती रहती हैं तब भी तुम्हारे मनमें कार्य्यफल देखने की इच्छा रह सकती है। यदि तुम किसी मनुष्य की सहायता करते हो तो यह 'देखना' चाहते

हो कि मैंने उसको कितनी साहयता दियी है; कदाचित् यह भी चाहते हो कि वह भी यह जान ले और कृतज्ञ होवे। परन्तु यह भी तो इच्छा है, और विश्वास का अभाव भी है। जब तुम दूसरों की सहायताके लिये अपनी शक्ति का उपयोग करते हो तो उसका कुछ फल तो अवश्यही होगा, चाहे तुम देख सको या न देख सको; यदि तुम "कर्म का अचल नियम" जानते हो तो तुम यह भी जानते हो कि ऐसा अवश्यही होगा। अतएव जब पुराय करो तो पुरायके संकोच से नकि उसके फल मिलनेकी आशा से; जब कोई कार्य्य करो तो कर्त्तव्य समझकर नकि परिणाम देखनेकी आशासे; तुम्हें अपनेको जगत्की सेवाके लिये अर्पण करदेना चाहिये क्योंकि तुमको यह इतना प्रिय है कि विना अर्पण किये तुम रह नहीं सकते।

सिद्धियोंके लिये वासना मत रक्खो; जब "गुरुदेव" को यह विदित होजायगा कि उनका पाना तुम्हारे लिये कल्याणकारक है तब

वे स्वयं तुमको प्राप्त हो जावेंगी। उनको हठकर शीघ्र प्राप्त करलेना बहुधा अति दुःख का कारण होता है; इसप्रकार से सिद्धि प्राप्त करनेवालेको प्रायः जगत्के पिशाचादि बहकाकर कुमार्ग में लेजाते हैं या वह उन्मत्त होजाता है और यह समझता है कि मुझसे भूल होही नहीं सकती। कमसे कम यह तो निश्चय है कि जो समय और बल इन सिद्धियोंके प्राप्त करनेमें लगाये जाते हैं वे परोपकारमें लगाये जा सकते थे। इस मार्गपर उन्नति करते २ वे प्राप्त हो जावेंगी—वे 'अवश्य' मिलेंगी; और यदि "श्रीगुरुदेव" को यह विदित हो जाय कि उनका शीघ्र पाना तुम्हारे लिये उपयोगी है तो वह तुमको बतला देंगे कि विना हानि कैसे उनको प्राप्त करना होता है। तबलौं उनका न मिलनाही तुम्हारे लिये अच्छा है।

प्रतिदिन के साधारण व्यवहारमें जो कुछ छोटी २ वासनायें हैं उनसे भी तुमको सावधान रहना चाहिये। कभी नामी होने या चतुर

कहलानेकी इच्छा मत रक्खो; बोलनेकी इच्छा कुछ भी मत रक्खो। कम बोलना अच्छा है; परन्तु जबलौं तुमको निश्चय न हो कि जो कुछ तुम कहना चाहते हो वह सत्य, प्रिय और हितकारी है तबलौं कुछ न कहना उससे भी अच्छा है। बोलनेके पहिले ध्यानपूर्वक सोचलो कि जो कुछ तुम कहना चाहते हो उसमें ये तीनौं गुण हैं या नहीं, यदि नहीं हैं तो जिह्वा को कष्ट मत दो।

बोलनेके पहिले सावधानता के साथ सोचने का अभ्यास अभीसे करना अच्छा है क्योंकि जब तुम "दीक्षा" के मन्दिर में प्रवेश करते हो तो तुमको प्रत्येक शब्दका विचार करना आवश्यक है नहीं तो तुम ऐसी बात कहोगे जो नहीं कहनी चाहिये। साधारणतः अधिकांश बोलचाल अनावश्यक और मूर्खता है; जब उसमें दूसरौंकी निन्दा आती है तो यह दुष्टता है। अतएव कहनेसे अधिक सुननेका अभ्यास करो; जबलौं तुम्हारी सम्मति न माँगी

जाय तबलौं अपना मत आपही प्रकट न करो। इन गुणोंका वर्णन एक दूसरे प्रकार से यों किया गया है जैसे:—जानना, साहस करना, सङ्कल्प करना एवं चुप रहना; और इन चारों में से अन्तिम सबों से कठिन है।

दूसरोंके काममें हाथ डालनेकी इच्छा करनी एक दूसरी साधारण वासना है जिसको तुम्हें दृढ़तापूर्वक दबाना चाहिये। जो कुछ दूसरा मनुष्य करता, कहता या विश्वास करता हो वह तुम्हारा काम नहींहै और उस मनुष्यको नितान्त उसकी इच्छाके अनुसार करने देना तुमको अवश्य सीखना चाहिये। जबलौं वह दूसरों से छेड़छाड़ नहीं करता तबलौं वह जैसे चाहे तैसे सोचने, बोलने और करनेके लिये स्वतन्त्र है। तुम स्वयं जो काम करना ठीक समझते हो उसके लिये स्वतन्त्रता चाहते हो; उसीप्रकार वैसीही स्वतन्त्रता उसको भी देनी चाहिये, और जब वह स्वतन्त्रताका उपभोग करता है तो तुम को उसके विषयमें बोलनेका अधिकार नहीं है।

यदि तुम समझते हो कि वह भ्रम कररहाहै और तुमको एकान्तमैं अति प्रेम और नम्रता के साथ यह कहनेका समय मिले कि तुम ऐसा विचार क्यों करते हो तो सम्भव है कि तुम उस का समाधान करसको; परन्तु बहुत अवसर ऐसे हैं कि जहाँ इतना कहना भी अनुचित छेड़-छाड़ करना है। किसी दशामैं भी तुमको तीसरे जनके पास जाकर उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह तो अतिदुष्टताका काम है।

यदि तुम किसी बच्चे या पशु पर क्रूरता करते हुए किसीको देखते हो तो उसको रोकना तुम्हारा परम धर्म है। यदि तुम किसी मनुष्य को देशकी व्यवस्था (क़ानून) तोड़ते हुए देखो तो तुमको वहाँके अध्यक्षों (हाकिमों) को इसकी सूचना देनी चाहिये। यदि तुम किसी मनुष्यको शिक्षा देनेके लिये नियत हुए हो तो उसके दोषों को मधुरतासे बतला देना तुम्हारा धर्म होगा। इन अवस्थाओंके अतिरिक्त तुम अपना काम देखो, और चुप रहनेका गुण सीखो।

सदाचाराध्याय।

सदाचारके छः लक्ष्य, जो विशेष आवश्यक हैं, "गुरुदेव" ने यों बतलाये हैं:—

(ये षट्सम्पत्तिके नाम से प्रख्यात हैं)

१. मनका निग्रह।
२. आचरणमें संयम।
३. उपरति या मतमतान्तरका आदर।
४. प्रफुल्लता।
५. एकाग्रता।
६. श्रद्धा या विश्वास।

[मैं जानता हूँ कि इनमें से बहुतेरे प्रायः दूसरी भाँतिसे कहे जाते हैं, जैसे कि विवेक, वैराग्य इत्यादि चार मुख्य गुण भिन्न प्रकारसे वर्णन किये गये हैं; परन्तु यहाँ सब दशाओंमें मैं उनही शब्दोंका प्रयोग करता हूँ जिनका कि "श्रीगुरुदेवजी" ने मुझे समझाते समय उपयोग किया था।]

१. मनका निग्रहः—

वैराग्यके गुणसे ज्ञात होता है कि वासनामय शरीर वशमें रखना चाहिये; इससे विदित होता है कि मनोमय शरीर भी वैसेही रखना चाहिये। इसका तात्पर्य्य यह है स्वभाव वशमें रखना, इसप्रकार कि तुमको क्रोध या अधैर्य न प्रतीत होसके; स्वयं मन, जिससे कि तुम्हारे विचार सदा शान्त और व्याकुलतारहित रहें; और मनसे ज्ञानतन्तु जिससे उनको बहुत कम प्रयास होवे। यह अन्तिम काम कठिन है क्योंकि जब तुम "गुरुमार्ग" में आनेका प्रयत्न करते हो तो तुम अपना शरीर अधिक चेतन बनाये विना नहीं रह सकते, जिससे तुम्हारे ज्ञानतन्तु ध्वनि या आघातसे सहजहीमें त्रास पाते हैं, और किञ्चिन्मात्र दबावसे अत्यन्त पीड़ित होते हैं; परन्तु तुमको यथाशक्ति कुछ उठा न छोड़ना चाहिये।

शान्त मनसे धैर्यकीभी सूचना होती है जिससे तुम उन कठिनाइयों (परीक्षाओं) और दुःखोंका

जो "गुरुमार्ग" पर पड़ते हैं, निडर होकर सामना कर सको; इससे स्थिरताकी भी सूचना होती है, जिससे तुम उन क्लेशों को जो प्रत्येक मनुष्यके जीवन में आपड़ते हैं, हलके समझ सको, और छोटी २ बातोंकी रात दिन चिन्ता करनी, जिसमें बहुतसे मनुष्य अपना अधिक समय व्यतीत करते हैं, छोड़ सको। "श्रीगुरुदेव" की शिक्षा यही है कि मनुष्यको, बाहरसे जो कुछ आपड़े उसकी कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिये; शोक, कष्ट, व्याधि और हानि—इन सबकी कुछ भी गिन्ती नहीं करनी चाहिये और उनसे अपने मनकी शान्ति का भङ्ग नहीं होने देना चाहिये। वे पिछले कर्मों के फल हैं, और जब वे आपड़ते हैं तो तुमको उन्हें प्रफुल्लताके साथ सहन करना चाहिये, यह स्मरण रखकर कि सब बुराइयाँ अल्पकालके लिये हैं और तुम्हारा धर्म सदा प्रसन्नचित्त और शान्त रहना है। वे सब इस जन्मके नहीं किन्तु पूर्वजन्मोंके कर्मफल हैं; तुम उनको पलट नहीं सकते, इसलिये उनके विषयमें

कष्ट उठाना व्यर्थ है । उसके पलटे जो कुछ तुम इससमय कररहे हो उसपरही विचार करना ठीक है, जिसपर तुम्हारा आगामी जन्म निर्भर करता है, क्योंकि तुम उसको पलट 'सकते' हो।

कभी उदास या दुःखित मत हो। यह बुरा काम है, क्योंकि संगतिदोषसे यह दूसरों को उद्विग्न करता है और उनका जीवन कठिन होजाता है, तुमको ऐसा करनेका अधिकार नहीं है । इसलिये यदि ऐसी उदासी कभी तुम्हारे ऊपर आवे तो उसे तुरन्त फटकार दो ।

और भी एक प्रकार से तुमको अपना चित्त वशमें रखना चाहिये; इसको इधर उधर घूमने मत दो । जो कुछ तुम करते हो उसे, पूर्णतया सम्पन्न होने के लिये दत्तचित्त होकर करो; अपने मनको कार्य्यरहित मत रक्खो, किन्तु सदा अच्छे विचार मनके ऐसे भागमें रहने दो कि जब जब तुम्हारे मनको दूसरे कामोंसे अवकाश मिले तब तब वे आकर तुम्हारे मनके सामने खड़े होजावें ।

प्रतिदिन अपनी विचारशक्तिका उपयोग अच्छे २ कार्योंके लिये कियाकरो; जगत्के उद्धार के लिये अनेक शक्तियोंमेंसे एक शक्ति बनजाओ। प्रतिदिन ऐसे किसी मनुष्यको स्मरण करो जिस को तुम शोक या विपत्तिमें पड़ा जानते, या जिसकी सहायता करने की आवश्यकता समझते हो, और उसके हितार्थ अपने प्रेममय विचार उसके ऊपर भेजते रहो।

अपने मनको अहंकारसे रोक रक्खो. (पीछे खींचो), क्योंकि इसकी उत्पत्ति केवल अज्ञान से होती है। जिस मनुष्यको ज्ञान नहीं है वह अपनेको श्रेष्ठ समझता है, और यह विचारता है कि मैंने वह और यह बड़े २ काम किये हैं; ज्ञानी मनुष्य जानता है कि केवल "ईश्वर" ही श्रेष्ठ है, कि और सब अच्छे काम "ईश्वर" ही करता है।

२. आचरण में संयमः—

यदि तुम्हारा विचार जैसा होना चाहिये वैसा

हो तो तुमको अपने काममें कुछ कठिनाई नहीं पड़ेगी। तथापि स्मरण रक्खो कि मनुष्यजाति को उपयोगी होनेके लिये तुम्हारे विचारका कार्य्य में परिणत होना उचित है। आलस्य नहीं करना चाहिये किन्तु सब कार्यों में सदैव तत्पर रहना चाहिये। परन्तु तुम जोकुछ करतेहो वह 'तुम्हाराही' काम होना चाहिये दूसरेका नहीं; उसकी अनुमतिसे, और उसकी सहायता के लिये जबलौं न हो तबलौं दूसरेका काम नहीं करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको अपना काम अपने ढंगपर करने दो; जहाँ सहायताकी आवश्यकता हो वहाँ सहायता करनेको सदा उद्यत रहो, परन्तु "कभी" छेड़छाड़ मत करो। इस संसारमें बहुत मनुष्योंके लिये यह ज्ञान होना कि वे अपनाही अपना काम देखें अति कठिन होता है; परन्तु तुमको जो करना चाहिये सो ठीक २ यही है।

यद्यपि तुम बड़े २ काम करनेके लिये उद्योग कररहे हो, इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि तुम

अपने साधारण कर्त्तव्य भूल जाओ, क्योंकि जबतलौं ये कर्त्तव्य काम पूरे न होजावैं तबलौं तुम दूसरी सेवाके लिये स्वतन्त्र नहीं हो। तुम को नये सांसारिक कर्त्तव्य नहीं स्वीकार करने चाहिये; परन्तु जिन कर्त्तव्योंका करना पहिलेही से स्वीकार करलिया है उनको पूर्ण रीति से समाप्त करो, तुमको केवल स्पष्ट और उचित कर्त्तव्यों का मानना उचित है नाकि उन कल्पित कर्त्तव्यों का, जिनके करनेका भार लोग तुम्हारे ऊपर देना चाहते हैं। यदि तुम यह चाहते हो कि "श्रीगुरुदेव" तुमको अपना समझैं तो छोटे २ काम भी तुमको दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम रूपसे करने चाहिये नकि निकृष्टरूपसे; क्योंकि तुमको छोटे २ काम भी उन्हींके निमित्त करने चाहिये।

३. उपरति या मतमतान्तर का आदर:—

तुमको सबके लिये सम्पूर्ण सहनशीलता रखनी चाहिये और अपने धर्मोंके सिद्धान्तों

में जैसे उत्साहपूर्वक आदर और सहानुभूति रखते हो उसीप्रकार अन्य धर्मों के सिद्धान्तों में भी रखना चाहिये। क्योंकि उनका धर्म भी तुम्हारे धर्मके अनुसार परमपद प्राप्त करनेका एक मार्ग है। और सबको सहायता देनेकेलिये तुमको सब सिद्धान्तोंका जानना उचित है।

परन्तु पूर्णरूप से उपरतिके गुणके प्राप्त करनेकेलिये तुमको मूढ़विश्वास और अपने मतके हठसे प्रथम मुक्त होना चाहिये। तुमको सीखना चाहिये कि किसीप्रकार की क्रिया आवश्यक नहीं है, नहीं तो किसीप्रकारसे तुम अपनेको उन लोगोंसे उत्कृष्ट समझोगे जो कि क्रिया नहीं करते। तब भी तुमको उन मनुष्यों का तिरस्कार नहीं करना चाहिये जो कि अभी क्रियाओंके करनेमें लगे हुए हैं। जैसा वे चाहते हैं वैसा उनको करनेदो, केवल तुम्हारे कामोंमें, जिनको सत्यका ज्ञान होगया है, उनको हाथ नहीं डालना चाहिये—उनको तुम्हारे ऊपर उन क्रियाओं के दबाव डालनेका प्रयत्न नहीं करना

चाहिये जिनकी तुमको अब आवश्यकता न रही। प्रत्येक वस्तुके दोषपर कम विचार रक्खो; सबपर कृपादृष्टि रक्खो।

अब इस हेतु कि तुम्हारी आँखें खुलगई हैं, तुम्हारे कुछ पुराने विश्वास, तुम्हारी कुछ पुरानी क्रियायें तुमको निरर्थक प्रतीत होवें; कदाचित्, सचमुच, वे ऐसेही हैं। यद्यपि अब तुम इन क्रियाओंमें भाग नहीं लेसकते, परन्तु उन भले जीवोंकेलिये तुमको इनका आदर करना चाहिये जिनके पक्षमें अभीलों इनका महत्त्व है। इनका स्थान नियत है, इनका उपयोग नियत है; ये उन दो रेखाओंकी नाईं हैं जिनकी सहायतासे तुमने लड़कपनके समय जब लौं उनके विना भलीभाँति और सरलतासे लिखना नहीं जानते थे, सीधे और सुन्दर अक्षरोंका लिखना सीखा। एक ऐसा समय था जब तुमको इनकी आवश्यकता थी परन्तु अब वह समय जातारहा।

एक "महर्षि" ने एक समय ऐसा लिखा–

"जब मैं लड़का था तो लड़कोंकी भाँति बोलता, समझता और सोचता था; परन्तु जब युवा हुआ तो मैंने बचपनकी बातें छोड़दियीं"। तथापि जो मनुष्य अपने बचपनकी बातें भूल गया है और जिसकी बच्चोंके साथ सहानुभूति नहीं रही ऐसा पुरुष न तो उनकी सहायता करसकता और न उनको शिक्षा देसकता है। अतएव सबपर दयालुता, नम्रता और सहनशीलताके साथ देखो; किन्तु सब लोगोंपर सम भाव रखो, चाहे वे बौद्ध हों या हिन्दू, जैन हों या यहूदी, खीष्टियान हों या मुसलमान।

४. प्रफुल्लता :—

तुमको अपना कर्म प्रफुल्लता से भोगना चाहिये, चाहे वह कैसाही हो, और जो कुछ दुःख तुमपर आपड़े उसको अपना सौभाग्य समझो, क्योंकि उससे यह प्रकट होता है कि "कर्मनियामकदेव" तुमको सहायता देने योग्य समझते हैं। कितनाही कड़ा दुःख क्यों

न हो, तुम कृतज्ञ हो कि वह अधिक कठिन नहीं है । चेत रक्खो कि जबलौं तुम अपने बुरे कर्म भोगकर स्वतन्त्र नहीं होगये हो तबलौं "श्रीगुरुदेव" के कामके नहीं हो । "श्रीगुरुदेव" की सेवामैं अपनेको सौंपदेने से यह प्रकट होता है कि तुम ने शीघ्र अपने कर्म के भोगकेलिये विनति कियी है। और इस प्रकार तुम एक या दो जीवनमैं इतना कर्मफल भोगलेते हो जितनेके भोगनेकेलिये सैकड़ौं जीवन व्यतीत होते । परन्तु इस विनयके अतिउपयोगी बनानेकेलिये तुमको ये कर्म प्रफुल्लता और प्रसन्नता से सहना चाहिये ।

एक और बात यह है । सब प्रकारके ममत्वाभिमानका परित्याग करना चाहिये । कर्म तुमसे वे वस्तु छीनसकता है जिनको तुम बहुत चाहते हो—उन लोगौंको भी छीन सकता है जिनसे तुम अति प्रेम रखते हो । तब भी तुमको प्रसन्नचित्त रहना चाहिये—सब वस्तुओं से पृथक् रहनेकेलिये प्रस्तुत रहो ।

बहुधा "श्रीगुरुदेव" को अपनी शक्तिका प्रभाव दूसरोंपर डालनेकी आवश्यकता सेवक द्वारा पड़ाकरती है; यदि वह सेवक उदास होजावे तो वे यह नहीं करसकते। इसलिये प्रफुल्लचित्त रहना एक नियम होना चाहिये।

५. एकाग्रता :—

"श्रीगुरुदेव" का काम करना, यह एक बात है जो तुम्हें अपने सामने रखनी चाहिये। तुमको चाहे दूसरा कोई कार्य करना पड़े तौभी उसे कभी न भूलो किन्तु कोई दूसरी वस्तु तुम्हारे मार्गमें नहीं 'आसकती' क्योंकि सब सहायक और स्वार्थविहीन काम "गुरुदेव" केही हैं, और तुमको "उन्हीं" के निमित्त ये काम करने चाहिये। तुमको प्रत्येक कार्य करते समय पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, जिससे वह तुम्हारा अति उत्तम काम हो। उन्हीं "महर्षि" ने यह भी लिखा है "तुम जो कुछ करते हो, उसे मन लगाकर, "ईश्वर" के लिये करो

न कि मनुष्यके लिये।" यदि तुमको यह ज्ञात होजावे कि अमुक कार्य्य के देखनेके लिये "श्रीगुरुदेव" अभी आरहे हैं तो सोचो कि हम वह कार्य्य कैसे करेंगे; तुमको ठीक उसी प्रकार सब कार्य्य करने चाहिये। जिन मनुष्योंको सबसे अधिक ज्ञान है वेही ऊपर कहाहुआ पद सबसे उत्तमरूप से समझसकते हैं। उसीके समान एक उससे प्राचीन दूसरा पद कहागया है "जिस काममें तुम हाथ लगाओ उसको शक्तिभर करो।"

एकाग्रताका एक अर्थ यह भी है कि कोई वस्तु तुमको उस "मार्ग" से, जिसमें तुम्हारा प्रवेश होगया है, कदापि क्षणमात्रके लिये नहीं हटासकती। किसी प्रकार के मोह, या सांसारिक सुख या सांसारिक प्रेम भी तुमको इस "मार्ग" से हटा नहीं सकते। क्योंकि तुमको स्वयं इस "मार्ग" के साथ एक हो जाना चाहिये; इस "मार्ग" के साथ तुम्हारी इतनी एकता होनी चाहिये कि यह तुम्हारा

एक स्वाभाविक अंग होजावे और इसलिये इस "मार्ग" का अनुसरण करते समय तुमको इसके विचार करनेकी आवश्यकता न रहे और तुममें इससे विमुख होनेकी शक्ति न रहे। तम जो "ईश्वर" के "अंश" हो, इस बातका संकल्प करचुके हो; इससे अपनेको भिन्न कर लेना अपनेको अपनेसे भिन्न करना है।

६. श्रद्धा या विश्वासः—

तुमको "श्रीगुरुदेव" में श्रद्धा रखनी चाहिये; तुमको अपना भी विश्वास रखना चाहिये। यदि तुमको "श्रीगुरुदेव" का दर्शन होगया है तो तुम्हारी श्रद्धा उनमें जन्म जन्मान्तर लौं पूर्णरूप से रहेगी। यदि उनका दर्शन अभी लौं नहीं हुआ है तो तुमको उनके अनुभव करने और विश्वास करनेका प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि यदि तुम ऐसा न करोगे तो वे भी तुम्हारी सहायता नहीं करसकते। जबलौं पूर्ण श्रद्धा नहीं है तबलौं प्रेम

और शक्ति का अखण्ड प्रवाह नहीं होसकता।

तुमको अपना विश्वास रखना चाहिये। क्या तुम ऐसा कहते हो कि तुम अपनेको बहुत उत्तम रीतिसे जानते हो ? यदि तुम्हारा ऐसा विचार है तो तुम अपनेको जानतेही 'नहीं'; केवल तुम अपने बाहरी दुर्बल छिलके को जानते हो, जो अनेक बार कीचड़में गिर चुका है। परन्तु 'तुम'—अपने वास्तविक रूपमें—"ईश्वर-रूपी" अग्निके एक कण हो; और "ईश्वर" जो "सर्वशक्तिमान्" है तुममें विद्यमान है, और इसलिये यदि तुम संकल्प करलो तो कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसको तुम न करसको। तुम अपने मनमें यह कहो कि "जो कार्य्य एक मनुष्य करचुका है, उसको दूसरा भी करसकता है। मैं मनुष्य हूँ, और मनुष्य में विद्यमान "ईश्वर" हूँ; मैं यह कार्य्य करसकता हूँ, और अवश्य करूँगा।" क्योंकि यदि तुम इस "गुरु-मार्ग" पर चलना चाहते हो तो तुम्हारी इच्छा-शक्ति बुझायेहुए इसपातके समान होनी चाहिये।

प्रेमाध्याय.

सब गुणोंमें "प्रेम" अति आवश्यक गुण है, क्योंकि यदि किसी पुरुषमें वह यथेष्ट प्रबल हो तो वह उसके द्वारा सब दूसरे गुण प्राप्त करता है, और उसके विना सबोंका होना भी पर्य्याप्त नहीं है। प्रायः इस गुणको मुमुक्षा कहते हैं अर्थात् जन्म और मरणके चक्रसे मुक्त होने और "ईश्वर" के साथ एक होजानेकी अत्यन्त वासना। परन्तु इसको इसप्रकार वर्णन करने से स्वार्थका भाव आजाता है और उसके अर्थ के केवल एक अंशका बोध होता है। इसको वासना कहनेसे इच्छा-शक्ति, दृढ़व्रत और संकल्प कहना अच्छा है। इसके सफल होने-केलिये इस दृढ़व्रत से तुम्हारी प्रकृतिको इस प्रकार परिपूर्ण होजाना चाहिये कि फिर किसी अन्यभावको स्थान न मिले। सचमुच इसका अर्थ यह होता है कि "ईश्वर" के साथ एक होजानेका संकल्प, यह संकल्प इसलिये नहीं कि तुम दुःख और क्लेशसे मुक्त होजाओ किन्तु

इसलिये कि तुम "ईश्वर" में अति प्रेम होने से "उसके" साथ रहो और उसकी भाँति काम करो। "ईश्वर प्रेमस्वरूप" है, इसलिये तुम, यदि "उसके" साथ एक होना चाहते हो तो तुम पूर्ण रीतिसे स्वार्थरहित और प्रेमसे पूर्ण रहो।

प्रत्येक दिनके व्यवहारमें इससे दो बातें पायीजाती हैं; पहिली यह कि तुमको इस बात से सावधान होना चाहिये कि किसी जीवको कष्ट न पहुँचे; दूसरी यह कि तुमको सर्वदा सहायता करनेके अवसर देखते रहना चाहिये।

पहिले, किसीको कष्ट न देना। तीन पाप ऐसे हैं जिनसे इस संसारमें इतनी हानि होती है जितनी किसी दूसरी वस्तुसे नहीं, क्योंकि वे पाप प्रेमके प्रतिकूल हैं—ये तीनों निन्दा, क्रूरता, और मूढ़विश्वास हैं। जो पुरुष "ईश्वर"-प्रेमसे अपना चित्त पूर्ण रखता है उसको चाहिये कि इन तीनोंसे निरन्तर सावधान रहे।

देखो निन्दा क्या २ करती है। यह बुरे

विचारोंसे प्रारम्भ होती है, और किसी बात पर बुरा विचार रखना भी दोष है। क्योंकि प्रत्येक जीव और वस्तुमें भलाई भी होती है और बुराई भी होती है। हमलोग इन दोनोंमें से जिसे चाहें उसीका ध्यान करके उसे प्रबल बनासकते हैं, और इसप्रकार यातो विकाशको लाभ या हानि पहुँचासकते हैं, हम लोग या तो "ईश्वर"-संकल्प के अनुसार काम करसकते हैं या उनके विरुद्ध होसकते हैं। यदि तुम दूसरोंमें बुराई सोचते हो तो एकही समय तीन दुराचार कररहे हो:—

(१) तुम अपने पड़ोसमें सुविचार के पलटे कुविचार फैलारहे हो, और इसप्रकार संसार का दुःख बढ़ारहे हो।

(२) यदि तुम जो बुराई उसमें सोचते हो वह उसमें हो, तो तुम अपने विचारसे उसको पोषण कर प्रबल करते हो; इसप्रकार तुम अपने भाईको सुधारनेके पलटे बिगाड़रहे हो। परन्तु प्रायः वह बुराई उसमें नहीं पायी

जाती और यह केवल तुम्हारी मनोगति है; और तब तुम्हारा विचार तुम्हारे भाईको बुरे काम करवानेकी लालसा दिलाता है, क्योंकि यदि वह अबलौं पूर्णताको नहीं प्राप्त हुआ है तो तुम उसको अपने विचारोंके अनुसार बनासकोगे।

(३) तुम अपने मनको सुविचारोंके पलटे कुविचारोंसे भरते हो जिससे अपनी उन्नति रोकते हो, और जिन लोगों ने दिव्यदृष्टि प्राप्त करालियी है उनके लिये सुन्दर और प्रिय होनेके पलटे तुम कुरूप और दुःखदायी बनजाते हो।

निन्दक केवल अपने और निन्दितकी ये सब हानियाँ करके सन्तुष्ट नहीं होता किन्तु अपनी शक्तिभर दूसरोंको अपने दोषका भागी बनानेका उद्योग करता है। वह उत्सुक होकर दूसरों से अपनी पापमय कहानी इस आशासे कहता है कि वे मुझपर विश्वास करेंगे; और उस दीन दुःखी पर पापमय विचारकी वृष्टि करने में मेरे साथी होजावेंगे । ऐसी निन्दा एक

ही दिन होकर समाप्त नहीं होजाती, किन्तु प्रतिदिन हुआ करती है और एकको कौन चलावे सहस्रों मनुष्य ऐसा करतेहुए पाये जाते हैं। क्या तुम अब यह समझनेलगे कि यह कैसा नीच और भयानक पाप है ? तुमको इससे एकबारही बचना चाहिये। कभी किसी की निन्दा मत करो; जब कोई किसीकी निन्दा करता हो तो उसे मत सुनो, किन्तु नम्रतासे कहदो कि:-"कदाचित् यह सत्य नहीं है और यदि सत्य भी है तो इसके विषयमें कुछ न कहना ही अधिक सज्जनता है।"

अब क्रूरता के विषयमें सुनो। यह दो प्रकार की है, एकजो जानबूझकर कियीजाती है, और दूसरी जो बिना जाने कियीजाती है। जो क्रूरता जानबूझकर कियीजाती है उसका अभिप्राय दूसरे जीवोंको बुद्धिपूर्वक दुःख देना है; और यह पाप सब पापोंसे बढ़कर है—सच पूछो तो यह मनुष्योंका काम नहीं है किन्तु राक्षसों का। तुम कहोगे कि कोई मनुष्य ऐसा काम

नहीं करसकता; परन्तु मनुष्योंने वारबार ऐसा किया है, और वे अबभी नित्य करतेजारहे हैं न्यायाधीशोंने * ऐसा किया है; बहुतसे धार्मिक मनुष्योंने अपने धमक बहाने किया है। जीते प्राणियों पर अस्त्रप्रयोग करनेवाले आयु-र्विज्ञानशास्त्री भी ऐसा कररह हैं; बहुतसे पाठ-शालाके शिक्षकोंको ऐसा करनेका अभ्यास पड़ गया है। ये सब लोग अपनी पशुवृत्तिके दोषसे छुटकारा पानेका प्रयत्न करते हैं और यह बहाना करते हैं कि ऐसी तो रीति ही है। परन्तु पापका पाप होना केवल इसीलिये नहीं रुक जाता कि बहुत से मनुष्य उसे करते हैं। "कम" रीतिकी कुछ चिन्ता नहीं करता और क्रूरता का कर्म सबसे भयानक है। भारतवर्षमें कदापि एसा कुरीतियोंके लिये कोई बहाना नहीं है, क्योंकि यहाँ तो सभी लोग अहिंसा धर्मको

* ये यूरप में ५०० या ६०० वर्ष पहिले धर्मके विषयमें शासन करनके लिये ख्रीष्टीयलोगों के बड़े धर्मगुरु पोपके द्वारा नियत किये गये थे।

जानते हैं। निर्दयताका फल ऐसे मनुष्योंको भी मिलेगा जो "ईश्वर" के प्राणियोंको जान-बूझकर मारने जाते हैं, और उसको "मृगया या आखेट" कहते हैं।

मैं जानता हूँ कि तुम ऐसा काम नहीं करोगे, और "ईश्वर" पर प्रेम होनेके कारण समय पानेपर ऐसे कार्य्योंके विरुद्ध स्पष्ट शब्दों में अपना मत प्रकट करोगे। परन्तु जैसे कार्य्यमें क्रूरता होती है वैसेही वाणीमें भी होती है; और कोई मनुष्य जो दूसरेका हृदय दुखानेके लिये कुछ कहता है तो वह भी इसी दोषका अपराधी होता है। यह भी जानता हूँ तुम ऐसा नहीं करना चाहो, तथापि कभी २ असावधानता से कहीहुई बात उतनीही हानि पहुँचाती है जितनी कि द्वेषबुद्धि से कहीहुई। इसलिये तुमको अज्ञात क्रूरतासे भी बचना चाहिये।

बहुधा यह अविचारसे होती है। कोई मनुष्य लोभ और लालचसे इतना भरा रहता है कि वह कुछ भी नहीं सोचता कि दूसरों को बहुत

कम देनेसे और अपने स्त्री और बालबच्चोंको अधभूखा रखनेसे कितना दुःख फैलता है। दूसरा, केवल अपनी विषयवासनाका ही विचार करता है और इसकी कुछभी चिन्ता नहीं करता कि उस वासनाके तृप्त करनेमें कितने जीवों के तन मनका नाश करता है। तीसरा, क्षण-मात्रके कष्टसे बचनेकेलिये अपने सेवकोंको ठीक समयपर वेतन नहीं देता, और इसका विचार नहीं करता कि ऐसा करनेसे उनको कितनी कठिनाइयाँ होती हैं। केवल इतनीही असावधानतासे—कि अपने कामोंसे दूसरोंके ऊपर क्या परिणाम होता है, इस बातका विचार भूलजानेसे इतना दुःख होता है। परन्तु कर्म कुछ नहीं भूलता, और इसकी कुछ गिन्ती नहीं करता कि मनुष्य भूलते हैं। यदि तुम "गुरुमार्ग" में प्रवेश करना चाहते हो तो अपने कार्य्यके परिणामका विचार अवश्य करो, नहीं तो तुम निर्विचार क्रूरताके दोषी होजाओगे।

मूढ़विश्वास एक और महादोष है, और

इसने बहुत भयंकर निष्ठुरता करवायी है। जो मनुष्य इसका वशीभूत है वह दूसरोंसे, जो उस से अधिक ज्ञानी हैं, घृणा करता है, और उनसे भी वैसाही कार्य्य करानेका प्रयत्न करता है, जैसा वह स्वयं करता है। भला इसको तो सोचो कि जीवोंके बलिदान के मूढ़विश्वाससे और इससे भी निष्ठुर मूढ़विश्वास, अर्थात् मनुष्य को आहारकेलिये मांस आवश्यक है, इससे कितनी घोर हत्या होरही है। इससे विचार करो कि मूढ़विश्वासके कारण हमारे प्यारे हिन्दुस्थानमें नीचजातियोंके साथ कैसा व्यवहार कियाजारहा है, और इससे देखलो कि भ्रातृधर्म के जाननेवालोंमें भी इस दुर्गुणसे कितनी कठोर निर्दयता उत्पन्न होसकती है। मनुष्योंने इस मूढ़विश्वासके कुस्वप्नके धोखे में पड़कर "आनन्दमय ईश्वर" के नामसे अनेक घोर कर्म किये हैं; इसलिये सावधान रहो कि तुममें इसका लेश भी न रहे।

तुम इन तीन पापोंसे अवश्य बचो, इसलिये

कि ये सब प्रकारकी उन्नतिके बाधक हैं, क्योंकि इन पापोंसे प्रेमका विरोध होता है । परन्तु तुम्हें अपनेको केवल बुराईसे रोकनाही नहीं, किन्तु दूसरों की भलाई करने में मग्न रहना चाहिये । तुमको परोपकारकी अतीव उत्कण्ठा से इतना भरा रहना चाहिये कि अपने चारों ओर रहनेवालोंकी सेवा करनेका अवसर देखते रहो—केवल मनुष्योंकीही नहीं किन्तु पशु पक्षी और वनस्पतियोंकी भी । तुम्हें नित्य छोटे २ कामोंमें दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, इसलिये कि इसका अभ्यास होजाय और जब किसी बड़े कार्य्य करनेका दुर्लभ अवसर मिले तो हाथसे जाने न पावे। क्योंकि यदि तुम "ईश्वर" के साथ एक होनेके लिये उत्सुक हो, तो स्वार्थ के लिये नहीं; किन्तु इसलिये कि तुम सोता होकर "ईश्वर" के प्रेमरूपी प्रवाह को अपने भाइयों के पास पहुँचाओ ।

जो मनुष्य इस "मार्ग" पर है, वह अपने लिये नहीं, किन्तु दूसरोंके लिये जीता है; वह

अपनेको भूलगया है, इसलिये कि अपने भाइयोंकी सेवा करसके। वह "ईश्वर" के हाथमें लेखनीकी नाईं है, जिससे "उसके" विचार इस लोकमें प्रकाशित हों, जो विना ऐसी लेखनीके प्रकाशित नहीं होसकते। परन्तु इसके साथ ही साथ वह एक सचेत अग्नि-शिखा भी है, जो इस जगत्में उसके हृदयमें भरेहुए "दिव्यप्रेम" का तेज फैलारही है।

ज्ञान, जिससे तुम सहायता करसकते हो, संकल्प, जो ज्ञानको मार्ग दिखलाता है, और प्रेम, जो संकल्पको प्रेरित करता है—ये तुम्हारे गुण हैं। "ज्ञान" "संकल्प" और "प्रेम", ये "परमेश्वर" के तीन रूप हैं; और तुम, जो "उसके" सेवकोंमें अपनी गिन्ती कराना चाहते हो, इन गुणोंको स जगत्में प्रकाशित करो।

प्रस्तुत रहि गुरुवाक्य हित,
जोहत गुप्त प्रकाश।
गुरु आज्ञा सरवन करै,
युद्ध मध्य ग्रहणाश॥
तनिक सैन निरखत अहै,
जगत् भीड़ शिर पार।
कर्णवाद गुरु सुनत मृदु,
उच्च गीत महि पार॥

पब्लिशर

थियोसाफ़िकल सोसायटी बनारस

लखनऊ

सुपरिंटेंडेंट बाबू मनोहरलाल भार्गव बी.ए., के प्रबन्ध से

मुन्शी नवलकिशोर (सी. आई. ई.,) के छापेखाने में छ

सन् १९११ ई०

सचित्र का मूल्य ।≡)]   [बिना चित्र का मूल्य ।-)